लोकप्रियसाहित्यग्रन्थमाला – ७

मूलशङ्कर-नाट्यत्रयी

संयोगितास्वयंवरम्
छत्रपतिसाम्राज्यम्
प्रतापविजयम्

सम्पादकः
राजेन्द्रः नाणावटी

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
मानितविश्वविद्यालयः
नवदेहली

प्रकाशकः
कुलसचिव
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
५६-५७, इन्स्टीट्यूशनल एरिया
जनकपुरी, नवदेहली-११००५८

e-mail : rsks@nda.vsnl.net.in
website : www.sanskrit.nic.in

© राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

ISBN : 978-81-86111-30-7

संस्करणम् : २०१०

मूल्यम् २००/-रू०

मुद्रकः
अमर प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-११०००९
दूरभाषः- ९८७१६९९५६५, ९८९१७०९२१७
e-mail-amarprintingpress@gmail.com

पुरोवाक्

१८८६ तमे वर्षे गुर्जरप्रदेशे लब्धजन्मना, स्वपाण्डित्यमहिम्ना बडौदामहाराज-प्रभृतिभिः सम्मानितेन, महर्षेररविन्दस्य समकालिकेन संस्कृतविदुषा आ. मूलशङ्करमाणेकलालयाज्ञिकेन रचितं संस्कृतनाट्यत्रयम् अधुना एकस्मिन् सम्पुटे राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानेन प्रकाशपथमानीयत इति प्रमुदितं भवति मदन्तरङ्गम्।

ग्रन्थेऽस्मिन् मुद्रिते नाट्यत्रये प्रथमं **'संयोगितास्वयंवरम्'** देहलीनरेशस्य पृथ्वीराजनामकस्य, कनौजराजपुत्र्याः संयोगितायाश्च प्रणयकथानकं प्रस्तौति। सप्तभिरङ्कैः निबद्धमिदं नाटकं सुखान्तमस्ति। यद्यपि प्रसिद्धायामैतिहासिककथायां पृथ्वीराजस्य दुःखान्तं जीवितचरितं वर्णितमुपलभ्यते तथापि मूलशङ्करमहोदयेनात्र सुखात्मकघट्टे नाटककथा पर्यवसिता। वर्णसङ्घटन-पदचयन-भावनिर्माण-प्रसङ्गयोजनादि-दृष्ट्या नाटकस्यास्य अस्ति स्वीयं वैशिष्ट्यम्।

नाट्यकर्तुरपरा कृतिः **छत्रपतिसाम्राज्यम्** नवसु अङ्केषु स्वातन्त्र्यप्रियेण छत्रपतिशिवाजीमहाराजेन धर्मसाम्राज्यस्थापनाय कृतान् सङ्घर्षान् वर्णयति। युद्धप्रसङ्गभूयिष्ठमिदं नाट्यम् यवनशासनस्य दौष्ठ्येन, तदानीन्तनस्वार्थिक्षत्रियाणां क्षुद्रव्यवहारेण च खिन्नस्य शिवाजेः राष्ट्राभिमानसम्भरितां कर्मठतां मार्मिकतया प्रस्तौति।

मूलशङ्करवर्यस्य तृतीया रचना **प्रतापविजयम्।** अत्र हि मातृभुवं प्रति श्रद्धया स्वाभिमानधनेन महाराणाप्रतापसिंहेन कृतः स्वातन्त्र्यनिमित्तकः सङ्ग्रामः वर्णितः।

आ. मूलशङ्करमहोदयस्य एतन्नाट्यत्रितयमपि सुखान्तमस्ति। त्रिषु अपि नाट्येषु घटनाः उत्सवे परिणमन्ते। संयोगितास्वयंवरे पृथ्वीराज-संयोगितयोः विवाहोत्सवं यावत् कथा प्रस्तुता। छत्रपतिसाम्राज्ये धर्मसाम्राज्याभिषेकोत्सवं यावत् प्रसङ्गो वर्तते। प्रतापविजयं तु महाराणाप्रतापस्य उदयपुरविजयोत्सवेन पूर्णतामेति।

मूलशङ्करमहोदयस्य नाट्यकृतिषु स्त्रीपात्राणामपि सम्भाषणानि संस्कृतेनैव निबद्धानि। एतासु कृतिषु बहुत्र शास्त्रीयशैल्या गानानुकूलानि पद्यानि (गेयपद्यानि) अपि वर्तन्त इति अपरं वैशिष्ट्यमवलोक्यते।

ऐतिहासिककथाबीजमवलम्ब्य मूलशङ्करमहोदयेन रचितानि इमानि त्रीणि नाट्यरत्नानि पृथक्-पृथग्रूपेण बहुपूर्वं प्रकाशितान्यपि पुनः सुष्ठु सम्पाद्य ग्रन्थरूपेण सज्जीकृत्य राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानद्वारा प्रकाशनाय आचार्येण राजेन्द्रनाणावटीमहोदयेन प्रस्तुतानि। बहुशास्त्रविशारदेन मूलशङ्करवर्यस्य सहाध्यापकेन पं. श्रीधरलक्ष्मणशास्त्रिणा मूलशङ्करकृतनाट्यत्रयस्यापि टीकाः विरचिता आसन्। ताभ्यष्टीकाभ्यः पर्यायात्मकांशान् विहाय छन्दोऽलङ्कार-सन्धि-सन्ध्यङ्ग-प्रसङ्गनिर्देशादीनंशान् स्वीकृत्य मूलकृतिना सह सम्पादकेन व्यवस्थितरीत्या संयोजिताः। तादृशोऽयं ग्रन्थः मूललेखकस्य १२५ तमायां जन्मतिथौ संस्थानेन प्रकाश्यत इति नितान्तं हर्षमनुभवामि।

सन्दर्भेऽस्मिन् मूललेखकः आ. मूलशङ्करमहोदयः सश्रद्धं स्मर्यते। ग्रन्थ-सम्पादकं, प्रकाशनकर्मणि सहकृतवतः सर्वानपि हार्दमभिनन्दामि। ग्रन्थोऽयं संस्कृतनाट्य-साहित्ये दृष्टिमतां, विदुषां, छात्राणाम् अनुसन्धातृणां चोपकाराय भवेदित्यभिप्रैमि।

–राधावल्लभत्रिपाठी

सम्पादकीय

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के कुलपति प्रो. राधावल्लभजी के समक्ष मैंने अर्वाचीन संस्कृत रचनाकारों की कुछ प्रशिष्ट कृतियों के संपादन एवं पुनर्मुद्रण का सुझाव रखा तो तुरन्त उन्होंने गुजरात के सर्वमान्य नाट्यकार आ० मूलशंकर माणेकलाल याज्ञिक के तीन नाटकों के सम्पादन का उत्तरदायित्व मुझ पर ही डाल दिया । मेरा ही सुझाव था, ना भी कैसे करता ? स्वीकार किया, यथाशक्ति पूरा हो रहा है । इस कार्य का पूर्ण होना भी उन्हीं के आग्रह के आभारी है ।

संयोगवश मूलशंकरजी का जन्मदिनांक ३१ जनवरी १८८६ है; अतः ३१ जनवरी २०१० के दिन इनकी १२५वी जन्मतिथि भी पड़ती है । उसी दिन इस **मूलशंकरनाट्यत्रयी** के ग्रन्थ के लोकार्पण का सुयोग भी अवसरप्राप्त बन गया है। इसके लिये तो केवल भगवती भवितव्यता के प्रति ही आभार प्रकट करना होगा ।

व्यक्ति को परखने की एक अत्यंत विशिष्ट शक्ति वडोदरा के गुणज्ञ पुण्यश्लोक महाराजा कै० सयाजीराव (तीसरे) में थी । उन्होंने ही राजा रविवर्मा जैसे चित्रकार, उस्ताद फैयाज़खाँ जैसे गायक, श्री अरविन्द जैसे अंग्रेजी के प्रोफेसर, मणिलाल नभुभाई और चीमनलाल दलाल जैसे भाषाविदों को वडोदरा की राजकीय शिक्षासंस्थाओं में निमन्त्रित किया था । ऐसे तारकों में एक आ० मूलशंकर याज्ञिक भी थे । इनका वडोदरा के शैक्षिक एवं विद्वज्जगत् में निमन्त्रित होना एवं प्रथमतः ही नवप्रारब्ध शासकीय पाठशाला के प्राचार्यपद पर नियुक्त होना अपने आपमें उनकी असाधारण विद्वत्ता का प्रमाण है ।

मूलशंकरनाट्यत्रयी के इस द्विविध अवसर में कई लोगों का सहकार प्राप्त हुआ है । संस्थान के कुलपति प्रो. राधावल्लभजी ने यह संपादन करवाया। मूलशंकरजी के जीवन के विषय में मुद्रिकाबहन, मनीषाबहन, कैवल्य दवे ने सहकार किया और रचना को सुलभ कराने में आ० कुलीनचन्द्र याज्ञिक, कुलपति प्रो. पंकज जानी, आ० डाह्याभाई शास्त्री, आ० निरुल्ला, प्रो. हसित मेहता ने भी योगदान दिया है। कुछ अन्य कार्यों में आ० प्रो. आर. सी. मेहता, श्रीमती मन्दा हिंगुराव, प्रो. मुकुन्द वाडेकर, प्रो. हरीश व्यास ने सहयोग किया – इन सबके प्रति मैं हार्दिक धन्यवाद समर्पित करता हूँ।

वडोदरा, दि. १३ जन० २०१०

– राजेन्द्र नाणावटी

अनुक्रम

पुरोवाक्	iii
सम्पादकीय	v
अनुक्रम	vii
प्रस्तावना	ix
आ० मूलशंकर माणेकलाल याज्ञिक	xxv
पं० श्रीधर लक्ष्मण शास्त्री	xxix
from Author's Introduction	xxx
Some Opinions	xxxi

नाट्यत्रयी

संयोगितास्वयंवरम्	१-८७
छत्रपतिसाम्राज्यम्	८९-१८९
प्रतापविजयम्	१९१-२८४

प्रस्तावना

बीसवी शती के पूर्वार्द्ध में भारत में जो प्रशिष्ट संस्कृत साहित्यकार हुए उनमें मूलशंकर माणेकलाल याज्ञिक अन्यतम हैं, समकालिक गुजरात के तो वे अनन्यतम रचनाकार रहे । हमारे कुछ प्राचीन प्रशिष्ट संस्कृत नाट्यकारों की तरह इनका कवियश भी इनकी तीन नाट्यरचनाओं पर ही प्रतिष्ठित है । ये तीन रचनाएँ हैं *संयोगितास्वयंवरम्* (प्रथम प्रकाशन सा.सं. १९२८), *छत्रपतिसाम्राज्यम्* (१९२९) और *प्रतापविजयम्* (१९३१) । इन तीनों नाटकों में मूलशंकरजी की रचनाकला के जो उन्मेष प्रकट हुए उन्होंने अर्वाचीन संस्कृत साहित्य में उनके प्रदान को चिरकालीन बना दिया, उनके यश को भारत में और संस्कृतप्रेमी विश्व में फैलाया और संस्कृत साहित्य में उनका स्थान निश्चित कर दिया ।

पहले ही नाटक *संयोगितास्वयंवरम्* से उनकी कविताकला ने विद्वान् सहृदयों की प्रशंसा प्राप्त कर ली थी । नाटक का कथानक तो विख्यात है – राजकुमारी संयोगिता और दिल्लीनरेश पृथ्वीराज की इतिहासप्रसिद्ध प्रणयकथा । कनौज के राजा जयचन्द ने पुत्री संयोगिता का स्वयंवर रचा और उसमें उसके प्रियतम पृथ्वीराज को ही निमन्त्रण नहीं दिया तब पृथ्वीराज ने छद्मवेश में आकर स्वयंवरमण्डप से ही राजकुमारी का अपहरण कर लिया था । नाट्यकार मूलशंकर ने इस कथानक को कुछ भिन्न रूप में नाटक में प्रस्तुत किया है । यहाँ जयचन्द ने राजसूय यज्ञ का समायोजन किया है जो केवल चक्रवर्ती राजाओं के लिये करणीय हैं, और जयचन्द अभी चक्रवर्ती है नहीं । पृथ्वीराज इसलिये यज्ञ का निमन्त्रण स्वीकार नहीं करता और जयचन्द का शत्रु बन जाता है । यज्ञ के अनुषङ्गमें ही जयचन्द राजकुमारी संयोगिता का स्वयंवर भी कर देना चाहता है । पर राजकुमारी इन दिनों 'निरुत्सवा' दिखाई पडती है । उसकी उदासीनता का कारण जानने हेतु जयचन्द वसन्तोत्सव का आदेश देता है (अंक १)। योजनानुसार ही वसन्तोत्सव के उल्लासपूर्ण वातावरण में संयोगिता अपनी सखी के सामने पृथ्वीराज के प्रति अपने उत्कट प्रणय का मनोगत प्रकट करती है जो रानी गुप्त रूप में सुन लेती है। रानी समझाने का प्रयास करती है, पर संयोगिता अपने निश्चय में दृढ है । परिणामतः

उसे गंगा के किनारे कनौज नगर से कुछ दूर एकान्त महल में निर्वासन का आदेश होता है (अंक २)। पृथ्वीराज की एक पूर्वसेविका कर्णाटकी अब संयोगिता की अंतरंग सेविका है । उसके पत्र के साथ संयोगिता का प्रेमपत्र पृथ्वीराज को मिलता है । वह तुरन्त उसके हरण के विचार से अपने मित्र राजकवि चन्द के परिचारक गण में छन्नरूप में सम्मिलित होकर कनौज जाने की योजना बनाता है (अंक ३)। कनौज में जयचन्द की राजसभा में चन्द कवि का स्वागत होता है । छन्नवेषी पृथ्वीराज की उपस्थिति शंका तो प्रेरित करती है, पर अनिर्णय की स्थिति बनी रहती है । चन्द कवि के निवास पर कर्णाटकी आदि सखियां कविसत्कार के लिये आती हैं । पृथ्वीराज को प्रियतमा के निर्वासन-निवास का पता मिल जाता है । रात में ही वह निकल पडता है (अंक ४); और प्रियतमा के महल तक पहुंच कर कर्णाटकी की सतर्क सहायता से प्रविष्ट होकर विरहसंतप्त प्रियतमा से गान्धर्वविवाह कर लेता है (अंक ५)। फिर दूसरे दिन पूरी योजना के साथ आकर प्रियतमा को सखियों से बिदा करा ले जाता है (अंक ६)। दिल्ली पहुंचकर विवाहोत्सव होता है तो उसमें जयचन्द भी अपने विरोधको त्याग कर सौहार्दसंबंध के प्रस्ताव के साथ उपस्थित रहता है । सार्वत्रिक आनंद के वातावरण में राजसी विवाहोत्सव संपन्न होता है (अंक ७)।

सात अंक का यह नाटक हमारे पारंपरिक प्रशिष्ट संस्कृत नाटक के सभी लक्षणों का प्रायः यथातथ अनुसरण करता है । संस्कृत नाटक सुखान्त होना चाहिये । जब कि पृथ्वीराज के वृत्तको ख्यात करनेवाला राजकवि चन्द बरदायी का *पृथ्वीराजरासो* तो – संयोगिता के प्रणयरससर में डूबे हुए असावध पृथ्वीराज को यवन शाहबुद्दीन घोरी पराजित करता है, कैद करता है, अन्ध बनाता है, और उसके शरानुसंधान की अमोधवेधिता का परीक्षण करने में स्वयं भी मरता है – वहां तक कथानक को ले जाता है । नाटक को संस्कृत परंपरा के अनुरूप सुखान्त बनाने के लिये नाट्यकार ने कथानक के उस अप्रिय अंश को छोड दिया है और प्रेमियों के विवाहोत्सव में ही संपन्न होनेवाला सुखान्तक कथांश ही लिया है । इतना ही नहीं, सुखान्त को अधिक प्रतीतिकारक एवं संभवतः चिरस्थायी बनाने के लिये जयचन्द की प्रकृति में भी परिवर्तन किया है । नाटक में पृथ्वीराज के साथ जयचन्द का विरोध कट्टर नहीं है, केवल प्रसंगोत्पन्न है । व्यक्तिमात्र में स्वाभाविक ऐसी लोकैषणा से प्रेरित होकर जयचन्द चक्रवर्तित्व के लिये अपेक्षित पूर्णता न होते हुए भी राजसूय का उपक्रम कर देता है पर पृथ्वीराज के विरोध और यज्ञ में निमन्त्रण के अस्वीकार के औचित्य को वह भी समझता है । राजसूय का आनुषङ्गिक स्वयंवर भी वह नहीं करता है, केवल पृथ्वीराज के अस्वीकार से तत्काल

उत्पन्न क्रोध के कारण संयोगिता को एकान्तवास दे देता है, उसे स्वयंवर के लिये बाध्य नहीं करता। इतना ही नहीं, पृथ्वीराज जब संयोगिता का अपहरण कर ले जाता है तब उसके विवाहोत्सव में अपनी कन्याप्रदान की संमति के साथ उपस्थित भी रहता है । इस प्रकार विवाहोत्सव के आनंद में कन्या के पिता के विरोध की कलुषता भी दूर हो जाती है ।

नाटक के शीर्षक में जो 'स्वयंवर' शब्द का प्रयोग हुआ है उसकी सार्थकता को भी इसी दृष्टि से परखना होगा । 'स्वयंवर' शब्द के प्रयोग के औचित्य के विषय में शंका उठाई गई है । *'स्वयंवर' शब्द का जो प्रसिद्ध अर्थ है, स्वयंवर का जो परंपराप्राप्त विधि है - जिसमें राजकन्या के पतिवरणहेतु राजाओं-राजकुमारों को एकत्र निमन्त्रित किया जाता है - वह तो इस नाटक में है ही नहीं । प्रत्युत यहां तो कन्या का हरण होता है । पर ध्यातव्य है कि यह हरण कृष्ण द्वारा रुक्मिणी के हरण की तरह राजकुमारी संयोगिता की इच्छा के अनुसार हुआ है । 'स्वयंवर' का यही अर्थ नाट्यकार को यहां अभिप्रेत है । स्वयंवर का निर्देश तो प्रथम अंक में ही हो जाता है और जैसे टीकाकार ने बताया है (पृ. १२) यह निर्देश ही कथानक का बीज और मुख सन्धि का आरम्भ है । पर संयोगिता का स्वयंवरत्व कुछ भिन्न-विशिष्ट रूप में प्रगट हुआ । उसका निरुत्सवत्व, निरुत्सवत्व का कारण पिता को अवगत होना, पिता का पृथ्वीराज के प्रति क्रोधित होते हुए भी कट्टर न होना - इन कारणों से प्रत्यक्ष स्वयंवर हो ही नहीं पाया, स्वयंवर की घटना कुछ भिन्न रूप से ही घटी । जयचन्द के ही मुख में नाट्यकार ने सातवे अंक में यह उद्‌गार रखा है ।

मिथोऽनुरागाभ्युदयप्रहर्षितः स्वयंवरां मे तनयां समर्प्य ।

सम्राट् स्वयं विक्रमशालिने ते कृतार्थतामद्य गतोऽस्मि सान्वयः ।।
(सं.स्व.७.१३)

दोनों के मिथः अनुराग को पिता ने स्वीकार किया, प्रेमी पति का स्वयं वरण करने वाली पुत्री का कन्याप्रदान किया, और राजसूय में चक्रवर्तित्व के विवाद और तज्जन्य मनोदुःख को समाप्त करते हुए जामाता को 'सम्राट्' संबोधन भी कर दिया । सम्राट् बनने हेतु राजसूय का आरंभ तो स्वयं किया, पर अन्त में वह पद जामाता को ही प्राप्त करा दिया । जयचन्द का यह समाधान ऐतिहासिक चाहे न हो, समकालिक समाज

* द्रष्टव्यः Prajapati Sweta, *The Title of Samyogitasvayamvaram: A Problem*, JOIB, Vol. XLIII, No. 3-4, 1994, pp. 223-238.

की स्वयंवरिणी कन्या के पिता के स्नेहसिक्त क्षमाशील पितृभाव को तो प्रकट करता है।

इस सूक्ष्म समंजसता के कारण नाट्यकथानक को भी गोपुच्छाग्र एकाग्र संवादिता प्राप्त होती है । वर्णसंघटना का एक सहज लय, पदचयन की प्रयोजक प्रासादिकता, पदशय्या का एक प्रकार का अनाक्रमक प्रशिष्ट गौरव - रचनाशैली के इन लक्षणों से तो मूलशंकरजी का समग्र लेखन व्याप्त है । नाटक की प्रसंगयोजना-अंकयोजना भी सरल गति से प्रवाहित होती है । कार्यवेग भी - न मन्द, न तेज - प्रसन्न रुचितर्पक गति से बहता है । पात्रालेखन-भावनिरूपण भी प्रशिष्ट सहृदयों को मनोनुकूल और रुचितर्पक बन पड़ा है । कुल मिलाकर संयोगिता-पृथ्वीराज की अत्यंत परिचित प्रणयकथा का यह एक प्रसन्नकर नाट्यरूप सिद्ध हुआ है ।

संयोगितास्वयंवरम् का वातावरण रूमानी प्रणयकथा का है तो *छत्रपतिसाम्राज्यम्* का वातावरण नितान्त संघर्षमय कर्मशीलता का है । बीसवी शती के दूसरे चरण में जब हमारा दूसरा स्वातंत्र्यसंग्राम गतिमान् हो गया था ऐसे समय में शिवाजी जैसे स्वातन्त्र्यवीर लोकनेता के जीवनचरित का स्मरण अत्यंत कालोचित था और उसका अर्वाचीन संस्कृत के सृजनशील साहित्य में यह निरूपण कदाचित् सर्वप्रथम है । नाटक के आरंभ में शिवराज और उसके मित्र एसाजी, तानाजी, बाजी इत्यादि यवनशासकों की नीतिरहित निर्घृण दुष्टता और मूर्ख क्षत्रियों की मिथोविद्वेष के कारण दासतावाली देश की परिस्थिति से चिंतित और व्यग्र हैं । शिवराज के मन में विरोध क्रियाशील हो रहा है, तभी समाचार आते हैं की बहन को बहनोई के घर छोड़ने जा रहे नेताजी को मारकर बीजापुर के यवनसैनिकों ने बहन का अपहरण कर लिया । सुनते ही शिवराज हिन्दू धर्मराज्य की स्थापना का निश्चय कर लेता है, सभी मित्र और दादोजी देखमुख मरणान्तक साहाय्य का वचन देते हैं, दादाजी कोंडदेव राजनीति के कुछ मौल नियमों की सीख देते हैं, और कार्यसिद्धि के शकुन के रूप में तोरणादुर्ग का वृद्ध और तीर्थयात्रा का इच्छुक दुर्गपाल अपना दुर्ग शिवराज को सौंप देता है (अंक १)। शिवराज अब साम, दाम, दण्ड, भेद से चाकण, कोण्डने, पुरन्दर आदि किले जीत लेता है । नेताजी भी मरा नहीं था, पुनः संज्ञा पाकर वह यवनसेनानायक से राजदुर्ग छिनकर शिवराज को जा मिलता है । सह्याद्रि के मावळे वनवासियों को सैन्य में जोड़ना है पर उनके तालीम-वेतन के लिये धन नहीं । शिवराज आर्द्र भक्ति से माता भवानी की प्रार्थना करता है तो दैवी कृपा के रूप में उसी किले में गड़ा हुआ बहुमूल्य खजाना अचानक उसके हाथ लग जाता है (अंक २)। उसे भवानी तरवार की भेंट प्राप्त होती है । पराजित सेना के सैनिकों को और

सेनापति-किलेदारों को सन्मानपूर्वक वह छोड देता है । आबाजीने कल्याण प्रान्त जीत कर एक सुन्दर स्त्री का उपहार दिया तो शिवाजी घोषणा करता है कि परस्त्री तो उसके सेवकों के लिये भी पुत्री समान होगी । बीजापुर-सुलतान के सातसौ गान्धार सैनिक शिवराज की सेना में भर्ती हो जाते हैं । सुलतान शिवराज पर दबाव डालने के लिये उसके पिता को कैद करता है, तो शिवराज दिल्ली के मोगल बादशाह को पिता की मुक्ति की याचना के साथ सन्धिपत्र भेजता है, और राजमाता (जीजाजी) को घटनाक्रम से अवगत कराता है (अंक ३)। शिवराज की सहायता के लिये स्वामी रामदास ने भी युवानों में राष्ट्रभावना जगाने के उद्देश्य से सैंकडों मठ स्थापित किये हैं । बीजापुर-सुलतान का सेनापति अफझलखाँ दूत भेजता है - 'क्यों दोनों ओर के सैनिकों को मरवायें, कभी अकेले बैठकर सुलह कर लेते हैं' । पर शिवाजी दूत से गूढाशय जान लेता है - अकेले में मारने की योजना है । वह योजनापूर्वक एकान्त शिबिका में मिलता है और व्याघ्रनख से अफझल को चीर डालता है (अंक ४)। बाजीराव अपने प्राण देकर यवनसेना के मार्ग को रोकता है और शिवराज को क्षेमकुशल विशालगड में पहुंचा देता है (अंक ५)। गुप्तचर बताता है कि दिल्ली पादशाह ने शिवराज को पकड़ लाने के लिये जिस दक्खन के सूबे को आदेश दिया है वह पूना में शिवराज के महल में नाचगान में गुलतान है । शिवराज अपने सेवक की विवाहयात्रा में छन्नवेश में जाकर उसे मारने की योजना बनाता है (अंक ६)। बादशाह औरंगज़ेब की ओर से अंबर का महाराजा जयसिंह किसी प्रकार शिवराज को सन्धि के लिये मनवाकर दिल्ली-दरबार में भेजता है (अंक ७)। दिल्ली दरबार में औरंगझेब शिवराज को नीचा आसन देकर अपमानित करता है और उसे उसके निवास में नजरकैद करता है । शिवराज सावधानी से पूर्वयोजनानुसार फलों के टोकरे में छिपकर निकल जाता है (अंक ८) । फिर यतिवेश में आकर माता के समक्ष प्रगट होता है । इस बीच उसके मन्त्री ने बहुत सारे किले वापस जीत लिये हैं। सिंहगढ को जीतने के लिये स्वयं तानाजी जाता हैं (अंक ९), पर किला जीतने में उसके प्राण की आहुति चड़ जाती है । इस विषाद की पश्चाद्भूमिका में छत्रपति महाराज शिवराज का राज्याभिषेक होता है और मराठा साम्राज्य की विधिवत् स्थापना होती है (अंक १०)।

छत्रपतिसाम्राज्यम् घटनाबहुल नाटक है । महाराज शिवराज के जीवन की कई सारी घटनाओं को यहां निरूपित किया गया है । *संयोगिता०* जैसी काल और कार्य की एकता यहां नहीं है । ये घटनाएँ शिवाजी के जीवन के प्रायः तीन दशकों के कालखंड में फैली हैं । धर्मराज्य की स्थापना का निश्चय १६४५-६ में हुआ होगा, पिता

शाहजी का कारावास १६४८-१६४९ से १६५६ तक रहा, अफज़लखान का वध १६५९ मे किया गया, जयसिंह-शिवराज का मिलना १६६५ में हुआ, औरंगज़ेब के दरबार में पेशगी, नज़रकैद और आत्ममोचन १६६६ (मई से अगस्त) में, पुनरागमन नवम्बर में, चौथ-वसूली का अधिकार १६७२ में और साम्राज्याभिषेक १६७४ में हुआ ।

इतने विशाल कालखण्ड में फैले, वैविध्यपूर्ण घटनाओं से संकुल एवं निरन्तर स्वातन्त्र्यसंघर्षमय जीवन में से परस्पर असंबद्ध घटनाओं को इस प्रकार चुनना कि इनका कालक्रम भी बना रहे और इनमें कार्यकारणसंबंध की गन्धर्वनगरलेखा भी दिखती रहे - ऐसा संशोधनात्मक नाट्यसंविधानकर्म रचनाकार के प्रगाढ अभ्यास एवं पैनी संयोजक दृष्टि के बिना असंभव था । यवनों के नय-नीतिरहित निर्घृण एवं कुटिल अत्याचारों से क्रुद्ध होकर शिवराज धर्मराज्य की स्थापना का निश्चय करता है (अंक १), और मानुषी (१) दैवी (२) एवं आत्मिक चारित्र्यबल (३) की सहायता से अपना प्रभाव फैलाने लगता है । उसे रोकने के लिये बीजापुर-सुलतान ने नायक के पिता को कैद किया तो नायक दिल्ली-बादशाह के साथ सन्धि में उसका उपाय खोजता है (३) । सुलतान का सेनापति अगर इसे समझौते के छल से मारना चाहता है तो नायक दूतरहस्यभेद करके प्रतिछल से सेनापति को ही मार देता है (४) और निष्ठावान् मित्र-सेवक की प्राणाहुति का मूल्य चुका कर किले में सुरक्षित पहुंचता है (५) । इससे सावधान होकर इस सह्यमूषक को पकडने के लिये बादशाह ने यदि दक्खन के सूबे को भेजा तो छलप्रबन्ध से नायक उसे भी मात दे देता है (६) । अब निरुपाय बादशाह जयसिंह के माध्यम से नायक से सन्धि करवाता है (७) । इसके बाद भी अगर बादशाह नायक का अपमान और नज़रकैद करता है तो नायक करण्डकपट से मुक्त होकर (८) अपना साम्राज्याभिषेक करा देता है (१०) । सुलतान और बादशाह जैसे दो प्रबल खलनायकों के सभी छल-बल को वैसी ही कुटिल चालों से अपास्त करके शिवराज धर्मराज्यसंस्थापन का अपना निश्चय सिद्ध करता है । पूरे नाटक में व्याप्त इसी संविधानसूत्र से नाट्यकार ने इन विशृंखल घटनाओं में कार्य की एकता को सिद्ध किया है । नाट्यकार की नाट्यसंविधानकला की यह एक महती उपलब्धि है ।

एक प्रकार से इसे चरित्रप्रधान नाटक भी कह सकते हैं । शिवराज के पात्र का निरूपण ही नाटक का प्रधान आशय है । शिवराज के पात्र की कई रेखाएँ उभरकर सामने आई हैं। यवनों की दुष्टता और क्षत्रियों की क्षुद्रता से शिवराज खिन्न है, तो

उसकी विचारशील कर्मठता स्वयं ही एसाजी, बाजी, नेताजी, तानाजी जैसे समर्पित मित्रों को आकर्षित करती है । भवानी में श्रद्धा है और भवानी तलवार की तरह तोरणा दुर्ग और गुप्त खजाने जैसी अनपेक्षित दिव्य सहाय का पात्र भी बनता है । प्रियातिप्रिय मित्रों को बड़े दुःख से स्वातन्त्र्ययज्ञ में प्राणों की आहुति देते देखना पड़ता है । सुंदर स्त्री को देखकर प्रजाधर्म का विस्मरण नहीं होता । सुलतान के सैनिक शिवराज की सेना में प्रवेश चाहते हैं तो उसका विचार है – *समदृष्ट्यधीनैव साम्राज्यप्रतिष्ठा* । यवनों की दुष्टता और क्षत्रियों की क्षुद्रता दोनों को वह देखता है और समझता है कि *स्वप्रजानिर्विशेषं प्रजानां परिपालनमेव सर्वत्र राज्ञां परमो धर्मः* । इसीलिये स्वामी अगर नृपापसद है तो ऐसे भर्ता का विप्रकार और धर्मपरक भूभृत् का अविरोध – प्रत्युत साहाय्य – ही धर्मानुकूल है ऐसा वह ब्राह्मण दूत को समझा भी सकता है । शठं प्रति शाठ्यम् और छलाश्रयी शत्रु का कपटाश्रय से ही निराकरण वह करता है । किंबहुना, भगवान् कृष्ण की तरह वह भी समझता है कि धर्म परंपराप्राप्त और केवल ऊपरी आचारविधान में नहीं, उसके मूल आशय की रक्षा करनेवाले प्रसंगानुकूल व्यवहार के आचरण में निहित है । आचार की परंपरा नहीं, लोकहित की रक्षा ही धर्म है । क्षत्रिय का धर्म समझता है, पर गुरु रामदास के समक्ष निर्वेद प्रकट हो ही जाता है–*भगवन् अथ मया यावज्जीवं किमेवमेव हिंसाप्रधानो धर्मोऽनुष्ठेयः* (१.२ से पूर्व)। धन के अभाव में साधनविकलता से विषण्ण है तब मित्र नेताजी के पास मन की गहरी बात खुल ही जाती है । 'हे वीराग्रसर, तुझे ही सारी राष्ट्रोद्धार की प्रवृत्ति को सौंपकर मैं तो हाथ में दण्डकमण्डलु लेकर, सब छोडछाडकर, परब्रह्मनिष्ठ परिव्राजक बन जाऊँगा' (२.५)। क्षत्रिय के स्वधर्मनिष्ठ आचरण के पीछे भी एक गहन विरक्ति का भाव – यही शिवराज के पात्र की मूल रेखा है ।

छत्र०नाटक का एक दूसरा पक्ष भी ध्यान देने योग्य और महत्त्वपूर्ण है । शिवराज के स्वातन्त्र्यसंग्राम के कुछ आयाम यहां उजागर होते हैं । शिवराज के क्रोध एवं साम्राज्यस्थापननिश्चय का कारण उसकी वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा नहीं है, यवनों के निर्घृण, नीतिरहित और कुटिल अत्याचारों ने उसके क्रोध को जगाकर धर्मराज्यस्थापना के निश्चय को प्रेरित किया है । यवनों के अत्याचारों ने सभी मर्यादाएँ लांघ दी है ।

धर्मध्वंसवृतान् परधने लुब्धान् मृदौ निर्दयान्
मन्दान् विक्रमशालिनि प्रतिभटे कूटप्रयोगोत्कटान् ।

विश्वस्तेऽपि च हिंस्रकान् कुलवधूसंकर्षणे सोत्सवान्
गोविप्रेष्वपचारिणः कथमिमान् देवद्विषः संश्रये ।। (१.२४)

दूसरी ओर क्षत्रियों का प्रतिव्यवहार कैसा है ?

परस्परोन्मूलनसंप्रवृत्तान्
विहाय धर्मं विषयेषु सक्तान् ।
नित्यं प्रजास्वापहरान्नृपालान् ... (१.६)

तीसरी ओर स्वामिनिष्ठा के किस आदर्श का हमारी विप्रादि प्रजा अनुपालन करती है ?
स्वधर्मनिष्ठानामपि भर्तुरनिष्टापादनेन त्वपरिहार्य एव कृतघ्नतादोषः । (४.१४ के पश्चात्)

धर्मनिष्ठा के ऐसे व्यामोह से भ्रमित हिन्दू प्रजा जब अधर्मनिष्ठ यवनों की संनिष्ठ सेवा करती रहेगी तो परिणाम क्या होगा ?

भवन्ति विप्रा यदि धर्ममूर्तयो
विरोधिनो धर्मपरस्य भूभृतः ।
तदा प्ररोहैः सह धर्मपादपः
समूलमुच्छेदमवाप्नुयाद् ध्रुवम् ।। (४.१६)

हमारे देश की दुर्दशा का एक महत्त्वपूर्ण कारण ऐसी भ्रमित धर्मदृष्टि एवं तज्जन्य व्यवहाराचार भी है । परंपरागत धर्मदृष्टि और संनिष्ठ धर्माचरण की ऐसी सूक्ष्म विचारणा इस नाटक में कुछ स्थानों पर हुई है जिससे इस नाटक को एक विशिष्ट वैचारिक–दार्शनिक आयाम प्राप्त होता है । ध्यातव्य है कि ऐसे विमर्श यहां कभी दीर्घ या निर्वेदकारक न बनकर नायक के प्रसंगप्राप्त व्यवहारों की कर्तव्यता को वैचारिक पीठिका पर प्रतिष्ठित करते हैं ।

छत्र०नाटक, संयोगिता० से बिलकुल भिन्न प्रकार का नाटक है । *संयोगिता०* से इसका वातावरण नितान्त भिन्न है, पात्रविधान अत्यन्त भिन्न है, कथानकसंविधान एकदम भिन्न है । घटनाबहुल नाटक होने के कारण इसका कार्यवेग त्वरित है । प्रणय जैसे मधुर भावों को यहां अवकाश नहीं है, प्रत्युत यहां तो कुटिल राजनीति, दावपेच, छलबल आदि की प्रधानता है । इसका कुटिल राजनयिक प्रपंचोंवाला कथानक कुछ *मुद्राराक्षस* का स्मरण कराता है, तो इसका प्राञ्जल प्रशिष्ट भाषाविधान *मृच्छकटिक* की याद दिलाता है । संस्कृत रूपकप्रकारों की दृष्टि से देखें तो *संयोगिता०* का आस्वाद

प्रशिष्ट नाटक के जैसा है जबकि *छत्र०नाटक* का आस्वाद प्रकरण रूपक के समान है। दोनों में इतनी भिन्नता है कि कभी तो ये दोनों नाटक एक ही रचनाकार की कलम से नीकले – और वह भी एक ही वर्ष के अन्तराल में – इसका आश्चर्य होता है ।

nd{ZYn[aV ZnQçÌ`r H$n Vrgan ZnQH$ *àVmn{dO`*_EH$ df H$ AÝVanb H$ ~nX àH$n{eV hm gH$m ¼ BgH$ Zn AH$n _ {X„r H$ _Jb g_nQ> AH$~a H$ gd àH$na H$ X~nd H$ gn_Z Z PHHa AZH$ H$ï>n H$n ghV hE ^r AnZr ñdnVÝÍ`{Zðm _ AS>J ahZ dnb _dnS> H$ B{Vhmgà{gÕ _hmanUn àVmn H$ OrdZàgJn H$n {Zê$nU hAn h ¼ Cg g_` àn`.. g^r anOnV anOnAn Z AH$~a H$n An{YnË` ñdrH$na H$a {b`n Wm ¼ _nZqgh AnZr ~hZ OnYn~B H$n AH$~a g ã`mh HanHa CgH$n EH$ gZnÜ`j ~Z J`n Wm Ana anOnVm H$n gn_ÝV ~ZnZ H$ AH$~a H$ H$n` _ gmhmæ` ^r H$a ahn Wm ¼ ZnQH$ H$ àW_ AH$ _ _nZqgh AH$~a H$s Ana g àVmnqgh H$ nmg `h àñVnd bH$a AnVm h {H$ àVmnqgh AH$~a H$ àYnZ gn_ÝV H$n nX ñdrH$na H$a & àVmnqgh ÑT>Vm g àñVnd H$n AñdrH$na H$aVm h ¼ _nZqgh H$n anO H$ A{V{W H$ ê$n _ `Wm{MV gËH$na Vm H$aVm h na CgH$ gmW ^mOZ H$aZ g BÝH$na H$a XVm h ¼ Bg An_nZ g H$Õ _nZqgh à{VemY H$s à{Vkn H$ gmW {~Zn ^mOZ {H$` bmQ> OnVm h ¼ àVmnqgh gÝ` H$n VËna ahZ H$n AnXe XH$a hëXrKmQ>r _ Anl ` bZ H$s V`nar H$aVm h (AH$ 1)& hëXrKmQ>r _ àVmnqgh H$n gZn{Zde ¼ VéîH$ gZn H$ gmW `Õ & Kn`b àVmnqgh H$n `Õ^{_ g CSn b AnZdnbn CgH$n {à` Aœ MVH$ Kn`b hmH$a _a OnVm h ¼ `Õ _ anON>ÌYnar Pnbn _nZqgh H$s _Ë` & _nZqgh H$n nandVZ & JáMa ~VmVm h {H$ AH$~a ñd` _dnS> na AnH$_U H$ {b` An`Jn ¼ àVmnqgh H$n H$^bJT> _ Anl ` ¼(AH$ 2)& _nJb gZn{Zde ¼ bå~ Ka H$ ~nX ^r àVmnqgh hmW Zht AnVm, àË`V _Jb gZn H$n {N>n {N>n H$a {dZne H$aVm ahVm h ¼ AH$~a _nZqgh H$ Cna AH$bn`m h ¼ àOn H$n à_ h V~ VH$ àVmnqgh hmW Zht An gH$Vm& JnÝYna _ {dßbd H$ g_nMna ¼ AH$~a H$n OnZn Oê$ar& AH$~a H$n gn_ÝV (qH$V àVmnqgh H$n l bn àegH$) nÏdranO `Õ{dan_ H$n nan_e XVm h ¼ AH$~a H$n AñdrH$na& Kan ahJn ¼ àVmnqgh nH$S> OnZ VH$ _nZqgh (Ana ^JdnZXng) H$n anOXa~na _ àde {Z{fÕ ¼ AH$~a bmQ> OnVm h (AH$ 3)& AH$~a H$n ~n÷U XV H$n nZ.. àVmnqgh H$ A_ËH$ H$ nmg ^OZn; Xgar Ana, àVmn H$n {~Zn nH$S> bmQ>Z na ànUXÊS> H$$ AnXe H$ gmW gZnn{V

H$n AO_a ^OZn¼ & _ÝÌr H$ nan_e g àVmnqgh H$n {J[aH$ÝXanAn _ {ZdmgH$aZ H$n {ZU` ¼ & _hmanZr H$ gmW nÏdranO H$s ~hZ ^r {J[adZn _ ahZn MmhVr h ¼ CgH$s Ana `danO H$s ZÌn„dr (AH$ 4)& `danO Cg anH$Z H$ {b` AnZ H$n {nVm H$ AnYrZ ~VmVm h Vm dh H$hVr h {H$ dh ñd` CZH$s (=àVmnqgh H$s) AZ_{V H$ {b` à`mg H$aJr ¼ & {\$a dh dZMan H$s gh` g nmg An` eÌJUn H$n nanñV H$aVr h ¼ V~ ^r àVmnqgh Cg nÌdY Zht, H$db nÌr{Z{def ê$n _ AnZ H$b _ ahZ H$s AZ_{V XVm h (AH$ 5)& AH$~a H$n _ÝÌJh ¼ dh nañna H$bh H$aV ^naVr`n H$n gK{QV H$aZn MmhVm h ¼ JáMa gZnn{V H$n gXe bmVm h {H$ àVmn eaU _ An`Jn ¼ nÏdranO Bg g_nMna H$n AbrH$ H$hVm h Vm AH$~a Cg CgH$ MaH$ Ûnan VÏ` OnZZ H$n AnXe H$aVm h (AH$ 6)& {J[a{e l a na àVmnqgh ¼ nÏdranO H$n gXe- 'AnnH$s eaUnJ{V H$ g_nMna H$n _Z {_Ï`n H$h {X`n h ¼ _ Jd H$é `n H$Qna l n b ?' eÌAn H$ ~rM ^r Bg {_Ì H$s AS>J lÕn g àgÞ àVmn CÎna ^OVm h, 'eaU H$db EH$b"H$s ! j Ð VéîH$anO H$s eaU H$gr ?' nÏdranO H$s àU`^¾ ~hZ H$n `danO H$n Anûdn gZ (AH$ 7)& àVmnqgh H$ ~nb H$_na H$n nZ.. H$^bJT> OnZ H$n hR> ¼ _Jb gZn df n gÌñV ¼ AH$~a Z Kan CRm {b`n& _dnS> bmQ>Z H$n `h C{MV g_` h Ana àOn ñdnJV H$ {b` VËna h ¼ àVmnqgh ñd` CX`na na AnH$_U H$aVm h (AH$ 8)& CX`na _ {dO`nËgd (AH$ 9)&

*àVmn{dO`*_/_ _hmanUn àVmnqgh H$ nnÌ _ ñdnVÝÍ` H$s CËH$Q> ^ndZn _{În_V hB h ¼ *N>Ì0ZnQH$* _ `dZengZ H$s X>ï>Vm-H$[Q>bVn-AZnMna H$ H$naU ÌñV {edanO H$n bú` Vm Y_anÁ` H$s ñWmnZn H$n h, {\$a ^r H$^r {nVm H$ H$nandng H$ H$naU `m H$^r AnaJO~ H$ X~nd H$ H$naU dh _Kb ~nXemh H$s ghn`-g{Y H$s `nMZn H$aVm h ¼ àVmnqgh H$n g`der {ggm{X`n H$b H$n anOnVr Jnad Cg Bg àH$na H$ {H$gr g_nYnZ g Xa a l Vm h ¼ eR> à{V emR>ç_ ^r dh Zht H$aJn ¼ `dZn H$ gn_Z AnZn j{Ì` Jnad Ë`nJ H$a g_nYnZ H$aZdnb _nZqgh H$ gmW dh ^mOZ Zht H$aJn - BgH$n n[aUn_ H$ï>X`H$ hmJn `h OnZV hE ^r¼ nÏdranO Vm CgH$n àegH$ {_Ì h, eÌ H$ Xa~na _ ^r CgH$s àegm H$aVm ahVm h, {\$a ^r CgH$ `dZ H$s XngVm ñdrH$na H$aZ H$ H$naU CgH$s ~hZ H$n dh nÌdY H$ ê$n _ ñdrH$na Zht H$a gH$Vn, Mmh Vm dh nÌr{Z{def H$ ê$n _ anOH$b _ ah b ¼ AH$~a Og g_W `dZ eÌ H$ gn_Z

AJa dh `Õ _ Zht {QHS gH$Vn Vn anOàngnX H$ g I Ana XJ H$ a j U H$n NnS›H$a ndVr` OJbn H$ H$ï›_` OrdZ H$n ñdrH$na H$aVn h na `dZ H$n _Oan Zht H$aJn ¡ CgH$s _{hfr Ana `danO ^r Egr hr à~b ^ndZn g AnVàn V h¡ `danO nÏdranO H$s ~hZ H$ àU` H$n ñdrH$na Zht H$aVn ¡ A_nË` ^r AH$~a H$ CËHnMH àñVnd H$ de Zht hnVn, gndYnZ hn OnVn h ¡ Bgr AUZ_ ñdnVÍ`à_ g àVnn Z AnZr gnar OZnX Ed dZdngr àOn H$s AMb ^{º$ OrV br h, Ana Bgr àOn^{º$ H$ ~b na dh AH$~a H$s ~Sr gZn, à^V YZgn_Jr Ana bå~ Aag H$ ßníMnV ^r Ka H$ M ñdVÌ ah gH$Vn h, ndV g ndV NnVn ahVn h, ~nXenh H$n gÝ`Zne g naenZ H$a gH$Vn h Ana Aag H$ ~nX Kan CRn bZ H$n {dde H$a gH$Vn h ¡ ànUnÝV XÊS› H$ ^` H$ gn_Z ^r CgH$s àOn PH$Vr Zht ¡ {OgH$ H$ÝÐ _ àVnnqgh h Eg EH$ AS›J {Zðndnb ñdnVÝÍ`^º$ an ï› H$n dnVndaU Bg na ZnQH$ _ gnÚÝV Ì`ná h¡

ñdnVÝÍ`à_ H$s Bg Ì`nnH$ nünX^ _ àVnn H$n Z nH$S› gH$Z H$ H$naU AH$~a H$ H$nY H$n ^nOZ ~ZV hE Ana ‘H$nnnnandna’, ‘H$nndVna’, ‘gnd^n_’ Og g~nYZ H$a H$ PHHa VrZ ~na AH$~a H$ gn_Z _Oan H$aV hE _nZqgh Ana ^JdnZXng Og anOnVn H$s Xen A{VX`Zr` {X I nB nS›Vr h ¡

AH$~a H$ M[aÌ H$ AÀN› Aen H$n ^r {ZXe {H$`n J`n h ¡ na ^naV H$s àOn H$n dh EH$ gÌ _ ~nYZn MnhVn h ¡ Bgr{b` nañna H$bh H$aV j{Ì` anOnAn H$n dh AnZ N›Ì H$ ZrM bnZ H$n BÀN›H$ h ¡ Bgr H$naU g dh ZB anO^nfn CX V`na H$anH$a na Xe _ \$bnZn MnhVn h ¡ nÏdranO Og ñn ï›dŠVn j{Ì` H$n ^r CgZ AnZ gn_ÝVJU _ gåhnbn h¡ AH$~a O~ {Z_nO nT›Z OnVn h V~ CgH$s {hÝX anZr {ed_{Xa OnVr h - Egn Y_ñdnVÝÍ` ^r {Zê${nV {H$`n J`n h ¡ na H$n`H$bnn {H$VZn hr _hnZ Š`n Z {X I , _b ~nV Vn JTne` H$s h¡ AH$~a H$n BZ gna AÀN› H$n`n H$ nrN› Ane` Vn AnZ MH$d{VËd H$n {gÕ H$aZ H$s _hÎdnH$n j n hr h ¡

Ana AH$~a H$n Ane` Mnh {H$VZn hr _hnZ Š`n Z hn, CgH$$ {b` àVnn AnZ ñdnVÝÍ` H$s Anh{V Š`n X ?

N›ÌOZnQH$* H$s VbZn _ Bg ZnQH$ H$s H$n`J{V _ÝX h, H$N› *g`n{JVn0 Ogr ¡ àVnn Ana CgH$ _pÝÌ`n H$ H$n`{ZU` H$ {d_e _ anOZ`enó H$ H$N›

{gÕnVn H$s MMn àgJnJV h na H$n`dJ na à^nd ^r SnbVr h ¡ AH$~a H$s AnZ {dMnan H$s A{^ì`{º$ H$n ^r Egn hr à^nd nS›Vn h ¡

nÏdranO H$s ^{JZr anOH$_nar `danO H$ à{V AnH$ï› hnVr h, àU` ì`º$ H$aVr h, àVnn H$s AZ_{V nnZ H$n ñd` à`ng H$aVr h, àVnn H$ ñdnVÝÍ` H$ ÑT› AnXe H$ H$naU Ag\$b hnVr h, `danO H$ AnœngZ H$ CnanV ^r ànUË`nJ H$n {dMna H$aVr h - BZ {ZÎn[aUn_r àU` H$ KQZnàgJn H$n na ZnQçg{dYnZ _ nVnH$n H$ ê$n _ X I n On gH$Vn h ¡ ZnQçH$WnZH$ _ `h CnH$WnZH$ ZnQçg{dYnZ H$s Ñ{ï› g Mnh CnH$naH$ Z bJ, na Bgg ñdnVÝÍ`^ndZn H$ AnXe H$n EH$ n[a_nU Adí` àH$Q hnVn h ¡ ñdnVÝÍ` H$n `h AnXe BVZn H${RZ h {H$ Bg ñdnVÝÍ` `k_ gh`nJ H$aZdnb `danO-anOH$_nar Og gh`n{J`n H$n ^r AnZr {ZOr ghO g I nË_H$ gngn[aH$ ^ndZnAn H$n ~{bXnZ XZn nS›Jn ¡ _hnË_n JnYr H$ ñdnVÝÍ`gJn_ _ OS›Zdnb H$B `dH$n-`d{V`nZ AnZ ñZhg~Yn H$n ~{bXnZ H$a {X`n Wn, H$B Z Vn AnOrdZ ~÷M`dV JhU H$a {b`n Wn ¡ ñdnVÝÍ` H$ {b` gdñd H$ ~{bXnZ H$s {den n[aH$ënZn _ BZ ^ndZnAn-dVn H$n ^r g_nde hn OnVn h ¡ anOH$_nar H$ {Zîn[aUn_r àU` H$n `h nVnH$nñWnZr` CnH$WnZH$ ^r H$N› Egr ^ndZn H$n, ñdnVÍ`gJn_ H$ JnYr-gËn Jh H$ H$N› Eg hr à^nd H$n àH$Q H$aVn h ¡ ñdnVÝÍ` H$s gnYZn _ H$db ^n{VH$ g I n H$s Zht, àU` Ana dnËgë` Ogr H$B ^ndZnAn H$s ^r Anh{V XZr nS›Vr h ¡

Bg Ñ{ï› g _hnË_n JnYr H$ H$B {dMnan H$s à{VÀNn`n Bg_ X I r On gH$Vr h ¡

* * *

VrZn ZnQH$n H$s AJOr _ {b I r JB àñVndZn _ _beH$aOr Z gñH$V ZnQH$ H$ ag-ZnQH$-g{dYnZn{X b j Un H$n dUZ {H$`n h Ana AnZr aMZnAn _ gñH$V ZnQH$ H$ Cgr ànan H$n àn`.. AZgaU {H$`n h ¡ CZH$n à{e ï› dînn _ nÚn H$s aMZn H$aZn, H$WnZH$ H$n gßVn{YH$ AH$n _ (na Ñí`n _ Zht) {d^nOZ, ZnÝXr-gÌYna-ZQr-JrV g àna^-àñVndZn-àdeH$-{dîH$å^H$ An{X H$n à`nJ, gpñ_V_-à{dí`-{ZÎH$nÝVn. Ogr aJgMZnE - g~ H$N› à{e ï› gñH$V ZnQH$ H$n dnVndaU aMV h ¡ H$N› g_`nZH$b n[adVZ BÝhnZ {H$` ^r h ¡ Og,

BZH$ g^r órnÌ gñH$V ^nfn H$n hr à`nJ H$aV h ï& _ÀN¥H${QH$ Og ZnQH$n _ dgÝVgZn Z AndnXê$nU H$N> gdnX gñH$V_n{lË` H$h hnJ na {Z`_ g Vn dgÝVgZn-Cder-dngdXÎnn-eH$ÝVbn-aËZndbr-grVn An{X g^r órnÌ ànH$V _ hr ~nbV h ï& na _beH$aOr Z g^r órnÌn H$n gñH$V _ hr ~bdn`n h ï& Xga, ZnQH$ H$ àË`H$ AH$ _ _»` nÌ H$ ê$n _ Zn`H$ `n Zn{`H$n H$n hnZn CÝhnZ A{Zdn` Zht _nZn ï& g`n{JVn0 H$ àW_ AH$ _ Z Zn`H$ h Z Zn{`H$n ï& hn, O`MÝX Oê$a h Ana CgH$n nnÌJnad h_ à_l nnÌ H$ Ogn H$h gH$V h ï& à¥n0 _ H$N> Egn ßnH$Q> hnVn h ï{H$ àW_ Xn AH$n _ Zn`H$ àVnnqgh CnpñWV h, {\$a Vrga _ à{VZn`H$ gnd^n_ AH$~a, {\$a Xn AH$n _ àVnnqgh, {\$a EH$ AH$ _ AH$~a & EH$_nÌ N¥Ì0ZnQH$ H$ g^r AH$n _ Zn`H$ {edanO CnpñWV h (Zn{`H$n Vn na ZnQH$ _ h hr Zht)& Vrga, AnZ àW_ ZnQH$ g`n{JVn0 _ {dH$_nder`Og à{eï› ZnQH$ H$n AZgaU H$aV hE nÏdranO H$s àW_ _{hfr BpÀN¥ZrH$_nar Ana Z_{_Ì {dXfH$ H$ nnÌn H$n Zn__nÌ H$n EH$ hr AH$ _ CnpñWV {H$`n h, na Eg nnÌn H$s Aàng{JH$Vn Ed AZndí`H$Vn CÝhnZ VaÝV nal br Ana ~nX H$ XnZn ZnQH$n _ Egn EH$ ^r nnÌ ZnQH$ _ CnñWn{nV Zht {H$`n {OgH$s ZnQH$ H$ gn_{JH$ g{dYnZ _ A{Zdn`Vn Z hn¿& AWnV, _beH$aOr à{eï› gñH$V ZnQH$ H$ àn ê$n H$n AZgaU Vn H$aV h, na `h JVnZJ{VH$ Zht, Andí`H$Vn nS>Z na d Bg_ `Wn{MV n[adVZ ^r H$aV h ï&

na BZH$ ZnQH$n H$s à_l {defVn h BZ_ An` hE enór` ~{Xen dnb JrV ï& ^ng-H$n{bXngn{X H$ à{eï› gñH$V ZnQH$n _ Bg àH$na H$ J`nÚ Zht hnV W ï& BZ_ enH$ÝVb H$s àñVndZn AWdn hgn{XH$n H$ àgJ Og ñWnZn na JnZ Vn hnVn hr Wn, {dH$_nder`H$n MVWnH$ Vn H$Xn{MV gJrVZnQç Ogn hr ahn hnJn, na dhn ^r Jn`n OnZdnbn nÚ Vn dhr nananJV NnÝXg nÚ Wn, ^b dh _nÌn_bH$ hn & ~rgdr eVr H$ _Ü` ^nJ _ _~B Og _hnZJa _ ^nQ>dS>H$a An{U _S>br O~ H$n{bXngn{X H$ ZnQH$n H$n _MZ H$aVr Wr V~ d ^r BÝht NnÝXg nÚn H$n hr enór` anJn H$s ~pÝXen _ TnbH$a JnV W ï& H$Xn{MV _nÌn_bH$ An`n-Jr{V Og N>Xn H$n anJ~Õ H$aZ _ gabVn ahr hnJr ï& na ñdVÌ ê$n g YdnX Ana Xn-VrZ AÝVan-dnb Jn`Z H$ hr hV g aM J` J` nÚn H$n àMbZ Zht Wn ï& Bg àH$na H$ J`nÚn _ hr {Z~Õ gdàW_ (CnbãY) aMZn H$Xn{MV JrVJn{dÝX hr h ï& CgH$ gnW hr ànX{eH$ ^nfnAn _ ^r ñdVÌ

H$nì`àH$na H$ ê$n _ H$db J`j_Vndnb ñdVÌ nXn-JrVn H$s nanan eê$ hn JB Wr ï& JOanVr-{hÝXr H$ nX Ana ~Jnb H$ ~nCb VWn _hnan ï› H$s bndUr Bgr nanan H$n {ZXe H$aV h ï& na ZnQH$n _ JrVn H$n g`nOZ AdnMrZ H$nb _ OÝ_r gdVZ ì`ndgn{`H$ aJ^{_ H$s XZ h ï& 1850 H$ Angnng On ZB ànX{eH$ aJ^{_ AnH$V hn ahr Wr Cg_ JrV bJ^J A{Zdn` ê$n g g_n{d ï› hn J` W ï& ~rgdr eVrH$ àW_ MaU H$s JOanVr-_hnan ï›r` aJ^{_ H$ ZnQH$n _ JrV Adí` hnV W ï& JOanV H$ _{Ubnb Z^^nB Og à{eï› gn{hË`H$na Z gñH$V ZnQH$n H$ JOanVr _ AZdnX H$aV hE g_H$nbrZ JOanVr ì`ndgn{`H$ aJ^{_ H$s Bg bnj{UH$Vn H$n Ü`nZ _ al V hE H$N> NnXg nÚn H$n bndUr Og J` nÚn _ ^ndnZdnX ^r {H$`n Wn ï & (_{Ubnb H$ AZdnX ^r dSnXan anÁ`engZ H$ Anl` _ H$an` J` W ï&) Bg nünX^{_H$n _ O~ _beH$aOr gñH$V ZnQH$ {bl V h Vn CZ_ J` nÚn H$n hnZn AH$ñ_nV Zht bJVn& gñH$V ZnQH$n H$n nnan[aH$ ñdê$n al V hE ^r BZ_ J`nÚn H$n OnS>Zn {Zngе` g_H$nbrZ ànX{eH$ aJ_M H$ à^nd _ hAn h ï& ZnQçH$na enór` gJrV H$ ^r __k W ï& Bgg BZ JrVn _ àgJ-ñWb-H$nb H$ An{MË` H$n ga j U hAn h, enór` anJn Ana Vnbn H$n ^r n`ná d{dÜ` à`º$ hAn h&

{X„r _hn^naVH$nb g ^naV H$n à_l anOH$s` H$ÝÐ ahn h Ana nïdranO {X„r H$n A{V_ {hÝX engH$ Wn ï& 1192 _ _hå_X Knar Z nïdranO H$n nan{OV H$aH$ ^naV _ _ñbr_ engZ H$s Ztd Snbr ï& AH$~a H$ engZ _ àn`.. gnU ^naV _ _Jb gn_nÁ` \$b J`n Wn ï& {\$a ^r EH$_nÌ _dnS> H$ _hnanUn àVnn Bg `dZ engZ H$ AnYrZ Zht hE, Ana _dnS> anOñWnZ H$ _Ü` _ Wn, AH$~a H$ engZ H$s NnVr na, CgH$$ gn_nÁ` H$ öX`ñWnZ na ï& AnaJP~ H$ engZ _ {hÝX gn_nÁ` H$s ñWnnZn H$n On A{V_ à~b à`ng hAn dh {ednOr H$n Wn ï& CgH$ ~nX ~hV Aën g_` _ {~{Qe gn_nÁ` ^naV _ \$b J`n Wn& _beH$aOr Z VrZ hr ZnQH$ {bl Z H$s `nOZn ~ZnB Wr Ana BZ VrZ ZnQH$n H$ Zn`H$ W nïdranO, àVnnqgh Ana {edanO ï& ^naV H$n Jbn_ ~ZnZdnb `dZ engZ H$ Ana^, gdU Ana AÝV H$nb H$ ` VrZn ñdnVÍ`à_r {hÝX ga_n W, Ana BZ VrZn H$ OrdZ H$n ZnQçê$n _ àñVV H$aZ H$n BÝhnZ {Zü` {H$`n Wn ï& {hÝX Xeà_ Ana ñdnVÝÍ` H$s Egr Jhar Pl Zn H$ gnW BÝhnZ Xn Ana ~nVn H$n Ü`nZ _ al n Wn& EH$ Vn, VrZn H$ OrdZ H$ On aJ bnHHënZn _ gdn{YH$ àM{bV W

CÝht H$n AnZr aMZnAn _ COnJa H$aZ H$n à`ng CÝhnZ {H$`m& nÏdranO H$ OrdZ H$n gdm{YH$ bmHmHfH$ aJ h CgH$s g`m{JVm H$s àU`H$Wm H$m& bmH$à{g{Õ h {H$ Abm{HH gÝXar g`m{JVm H$ àU` H$ {b` CgZ N>Ù de _ OmH$a Cg ^a ñd`da g CgH$ {nVm H$ X I V X I V haU H$a b OmZ H$n gmhg {H$`m Ama {\$a CgH$ à_ _ BVZn S>~ J`m {H$ Kmar Z BgH$n \$m`X CRm`m ! àVmn AnZ ñdmVÍ`à_ H$ H$maU OJbm _ ^QH$Vm ahm, \$b_b I mH$a {O`m, na AH$~a H$s àMS> VmH$V H$ gm_Z PH$n Zht& {edmOr Z ^r nam OrdZ `dZm H$ àMS> X~md H$ gm_Z {ZaÝVa gKf {H$`m, gø_fH$ H$n {~éX m`m, Ama AmaJP~ Og Y_mÝY `dZegH$ H$s H$X g _º$ hmH$a {hÝX Y_egZ H$s ñWmnZm H$s ¡& BÝht VrZ aJn H$n _beH$aOr Z AnZ ZmQ>H$n _ Amb I Z H$aZ H$n g\$b à`mg {H$`m& Xga, gñH$V ZmQ>H$ H$s nanam H$n a j U H$aV hE CÝhnZ VrZm ZmQ>H$n H$n g I mÝV ~ZmZm Mmhm ¡& Bg hV g CÝhnZ VrZm H$WmZH$n _ g ZmQ>çaMZm H$ {b` dhr Ae JhU {H$` On CËgd _ n[aUV hm gH$ ¡& *g`m{JVm0* _ CÝhnZ XmZm à{_`m H$ {ddmhmËgd VH$ H$n ñd`gnU H$Wme {b`m, ef A{à` Ae H$n NmS> {X`m (EH$nY ~ma CgH$n H$N> {ZXe ^a H$a {X`m); *NÌ0ZmQ>H$* _ Y_aÁ` H$s ñWmnZm H$ {Zü` g Ama^ H$a gm_mÁ`m{^fH$ H$ CËgd _ Cg {Zü` H$s {g{Õ g ZmQ>çdñV H$n nU {H$`m, *àVmn0* _ ^r _mZtgh H$ An_mZ g gKf H$n ~rO S>bH$a na ZmQ>H$ _ Zm`H$ H$n gKf {Zê${nV H$aV hE AV _ gKf H$s g\$bVmê$nr àVmntgh H$ CX`na na {dO` H$* CËgd _ g_mnZ {H$`m ¡& VrZm ZmQ>H$ {ddmhmËgd `m gm_mÁ`m{^fH$mËgd `m {dO`mËgd _ g I mÝV g_mßV hmV h ¡& VrZm _ CÝhnZ {hÝX Y_ H$n, {hÝX gñH$V H$ _ë`m H$n Ama {hÝX ZmQ>çnanam H$n Jnad {H$`m h¡&

`h JOamV H$n, BZ ZmQ>H$n H$n `m H$Xm{MV gñH$V aJ_M H$n X^m½` ahm {H$ _MZ j _Vm nar _mÌm _ hmV hE ^r BZ ZmQ>H$n H$n H$ht _MZ Zht hm nm`m¡& Cg dŠV gñH$V ZmQ>H$n H$ _MZ H$s nanam H$Xm{MV na ^maV _ H$ht Zht Wr ¡& dV_mZ H$mb _ gñH$V H$ CËWnZ H$ gmW gñH$V ZmQ>H$n H$ H$N> àmg{JH$

---

* १५७६ में हल्दीघाट का युद्ध हारकर प्रताप भाग निकला पर उसके बाद भी "he continued the war with undaunted spirit and energy and had the satisfaction of recovering many of his strongholds before he died on the 19th January, 1597, at the age of fifty-seven." (Majumdar R.C.etc. *An Advanced History of India*, 1967, Macmillan, p. 444)

_MZ eê$ hE h ¡& na AÝ` àmX{eH$ ^mfmAm H$ Og ì`mdgm{`H$-ñdpÀN>H$ (`m AdVZ) aJ_M h, dgm gñH$V H$n Zht ¡& AV.. BZ ZmQ>H$n _ Om _MZ j _Vm ahr h, CgH$n Vm BZ ZmQ>H$n H$ - {def Vm *NÌ0ZmQ>H$* H$ - _MZà`mJm g hr gkmnZ hm gH$Jm¡&

Om ^r hm, _beH$aOr H$ BZ ZmQ>H$n H$s à{eïVm Ed g_H$mbrZ àñVVVm AmO ^r dgr hr àË`J h¡& BZH$s àmÄOb, à{eï> Ama _hmdaXma gñH$V ZmQ>ç^mfm, Aä`mgnU Ed ZmQ>çmË_H$ KQ>ZmM`Z, gOrd gdmXm _ CKS>Vm d{dÜ`nU nmÌg_h, H$eb ZmQ>çg{dYmZ Ed àmMrZ H$WmdñV _ ^r g_H$mbrZ gmàVVm H$n XeZ AmO ^r BZ ZmQ>H$n H$n CnmX` ~ZmV h ¡& BZH$s aMZm H$ AmR> XeH$ ~mX AmO ^r ` CVZ hr ZmQ>çmË_H$ Ed gmåàV àVrV hmV h ¡& `hr BZH$s gOrdVm Ed à{eï>Vm H$n ÚmVH$ h¡&

आ० मूलशंकर माणेकलाल याज्ञिक

श्री याज्ञिकजी का जन्म सा.सं.१८८६ में ३१ जनवरी के दिन मध्य गुजरात के नडियाद (सं. नटपुर) नगर वास्तव्य वडनगरा नागर ब्राह्मण पिता श्री माणेकलाल उमियाशंकर याज्ञिक के घर माता अतिलक्ष्मी की कोख से हुआ । इनकी प्रारम्भिक एवं शालेय शिक्षा नडियाद में हुई । फिर एक वर्ष जूनागढ की बहाउद्दीन कोलेज में पढने के बाद इन्होंने वडोदरा की प्रसिद्ध बडौदा कोलेज में उच्च शिक्षा प्राप्त की । उस वक्त वहां श्री अरविन्द (बाद में महर्षि अरविन्द) भी अंग्रेजी के प्राध्यापक एवं प्राचार्य थे । १९०७ में स्नातक की उपाधि प्राप्त करने के उपरांत उन्हें कौटुम्बिक कारणवश मुंबई की स्पीसी बेंक में नौकरी प्रारम्भ करनी पड़ी, पर बड़ौदा राज्य के गुणज्ञ महाराजा सयाजिराव (तीसरे)ने उनकी विद्वत्ता से आकृष्ट हो कर उन्हें बडौदा के शिक्षा विभाग में निमन्त्रित किया तो वे १९१४ में वडोदरा आये और १९१५ में नवप्रारंभित शासकीय संस्कृत पाठशाला के प्रथम प्राचार्य के रूप में नियुक्त हो गये । इस पद पर १७ वर्ष रहकर १९३२ में वे मेहसाणा (उत्तर गुजरात) की शाला के शिक्षक बनकर गये और १९४२ में वहां से सेवानिवृत्त हुए । (उन दिनों निवृत्तिवय ५५ वर्ष की थी ।) निवृत्ति के उपरान्त भी वे एस्.एन्.डी.टी. महिला कोलेज की कन्याओं को संस्कृत साहित्य पढाते रहे । शेष जीवन नडियाद में बीताते हुए उन्होंने १३ नवम्बर १९६५ को अपनी जीवनलीला समाप्त की ।

मूलशंकरजी का प्रथम विवाह उनकी १३ वर्ष की आयु में श्रीमती महाविद्या के साथ हुआ । इस वैवाहिक जीवन में इनके तीन पुत्र और दो पुत्रियाँ हुई, तीनों पुत्र अल्प आयु में ही चल बसे । प्रथम पत्नी के अवसानोपरान्त ३५ की आयु में इनका दूसरा विवाह श्रीमती वीरेन्द्रबाला के साथ हुआ । इस विवाह से इनके तीन पुत्रियाँ प्राप्त हुईं । वीरेन्द्रबाला का भी १९४५ में गले के कैन्सर से निधन हुआ तो वे स्वयं पांचों पुत्रियों की माता बन गये । मृत्यु के समय ये पांचों पुत्रियां (सुमति, मधु, अरविन्दा, सुवर्णा एवं मुद्रिका) जीवित थीं । इस समय अरविन्दाबहन अमरिका में और दौहित्री

मनीषा अहमदाबाद में हैं । कनिष्ठ पुत्री मुद्रिकाबहन अहमदाबाद में एवं एक दौहित्र कैवल्य वडोदरा में रहते हैं ।

संपत्ति के अभाव से मूलशंकर जी का साथ प्रायः आजीवन बना रहा । दोनों पत्नियों ने भी जल्दी ही साथ छोड़ दिया । तीनों पुत्र नहीं रहे । सबसे छोटा पीलु (यह नाम भी उन्होंने अपने प्रिय राग से रखा था।) तो आठ वर्ष की वय में ही चल बसा था। इन सभी आपत्तियों को इन्होंने बड़े धैर्य से झेला । इसमें उनकी धर्मशीलता से, उनके आध्यात्मिक झुकाव से बड़ा सहारा मिला । धर्मप्रवण तो वे थे ही, १९१४ में इन्होंने जगद्गुरु श्री शंकराचार्यजी से श्रीविद्या की दीक्षा प्राप्त की और शिनोर में नर्मदा के जल में खडे रहकर गायत्री मंत्र के तीन लाख जप का पुरश्चरण किया । इसी धार्मिकता ने आचार्य को जीवन के अभावों में भी संतोष और एकाकी अंतिम वर्षों में शान्ति और धैर्य प्रदान किया ।

अपनी मातृभाषा गुजराती में मूलशंकरजी ने पर्याप्त लेखन किया है । *सत्यधर्मप्रकाश* (१९१२) में उन्होंने श्रुति-स्मृति-वचनों का अपनी टीका के साथ संग्रह किया है । प्राच्यविद्या मंदिर, वडोदरा की सयाजी वाचनमाला श्रेणी में उन्होंने *तुलनात्मक धर्मविचार* और *आपणी प्राचीन शासनपद्धति* नामक दो पुस्तिकाएँ लिखीं । *सूर्य-चन्द्रवंशी राजाओं की वंशावली* तथा *जम्बूद्वीप अने सप्तद्वीपना नकशाओ* (१९३०) (-के मानचित्र) जैसे ग्रंथों की रचना की । *नैषधचरित* और *महात्मा गांधी : जीवनचरित* भी लिखे । *विजयालहरी* (१९१६) गीतिकाव्य और *मेवाडप्रतिष्ठा*, *नरसिंहनिनाद* एवं *हर्षदिग्विजय* नाटक लिखे । संस्कृत में भी पं० गोपालाचार्य उत्गीकर के साथ *विष्णुपुराण* की *कथाओं को (१९१७) सरल गद्य में प्रस्तुत किया, पं० बदरीनाथ शास्त्रीजी तर्कपंचानन के साथ *सप्तर्षिदृष्टवेदसर्वस्वम्* नामक भाष्यग्रंथ का प्रणयन किया । पर १९२६-१९३१ के पंचवर्षीय लघु कालखण्ड में उन्होंने जिन तीन नाट्यग्रंथों- *संयोगितास्वयंवरम्* (१९२८), *छत्रपतिसाम्राज्यम्* (१९२९) और *प्रतापविजयम्* (१९३१) - की रचना की उन तीन नाटकों ने मूलशंकरजी को कालजयी यश प्रदान किया ।

१९२५-२६ के आसपास भारत का स्वातंत्र्यसंघर्ष प्रबल होने लगा था तब

---

* वास्तव में, १९१५ में प्राचार्य-पदासीन होने पर उन्होंने पंडितजी के साथ प्रत्येक पुराण में वर्णित कथाओं के गद्यपुनर्लेखन की एक पुस्तकश्रेणी पुराणकथातरङ्गिणी की योजना बनाई थी । पर विष्णुपुराण की कथाओं का प्रथम ग्रंथ प्रकाशित होने के पूर्व ही पंडितजी का अचानक निधन हो गया और श्रेणी प्रथम ग्रंथ से आगे न बढ पाई ।

नाट्यरचना के लिये भारत के इतिहासप्रसिद्ध इन तीन वीर नायकों का वरण करते हुए उन्होंने यह भी विचार कर लिया था कि दो नाटक वीररसप्रधान होंगे और एक प्रणयनाटक होगा । (कदाचित् मन की गहन गुहा में कहीं भवभूति के सृजन-क्रम का अनुसरण रहा हो!) उन्होंने *प्रतापविजयम्* को सर्वप्रथम पूरा लिख भी डाला था । पर तभी गौरीशंकर ओझा का राणा प्रताप के जीवन पर महत्त्वपूर्ण संशोधनात्मक ग्रंथ प्रकाशित हुआ और मूलशंकरजी ने इस ग्रंथ के प्रकाश में अपने लिखे हुए नाटक में उचित और पूर्ण संशोधन करके पुनर्लेखन करने का निर्णय किया, और दूसरा प्रणयनाटक *संयोगिता०* रचकर उसे प्रथम प्रकाशित किया, फिर *छत्र०नाटक* भी आया और *प्रताप०* का प्रकाशन पर्याप्त संशोधन के बाद सबसे अंत में हुआ । तब तक मूलशंकरजी की प्रतिष्ठा देशविदेश में ईर्ष्याप्रेरक मात्रा में फैल चुकी थी । संशोधन के बाद भी *प्रताप०* के प्रकाशन में एक वर्ष का अन्तराल पड़ गया । इस बीच उन्होंने दो और ग्रन्थों की रचना की (या उन्हें करनी पड़ी) । *प्रताप०* की प्रस्तावना में उन्होंने महाराजा सयाजीराव के उपरान्त मेवार के तत्कालीन महाराजा भूपालसिंहजी के रुचि एवं सहाय का भी साभार स्पष्ट निर्देश किया है । पहले दो नाटकों के विषय में कई विद्वानों की सम्मतियाँ *छत्र०नाटक* में छपी हैं, वैसा कुछ *प्रताप०* के बारे में नहीं हुआ । सबसे बड़ी आश्चर्य की बात यह है कि *प्रताप०* के प्रकाशन के एक ही वर्ष बाद मूलशंकरजी को राजकीय पाठशाला का प्राचार्यपद छोडकर मेहसाणा की एक शाला में आसि० टीचर की नियुक्ति स्वीकार करनी पड़ी जहां वे अपने कार्यकाल के अंतिम दस वर्ष रहे । यह घटनाक्रम कैसे हुआ और क्यों हुआ, इसका कोई जवाब हमें कभी मिलनेवाला नहीं है।

मूलशंकरजी के ग्रन्थशीर्षकों से ही उनके वेद-वेदाङ्ग-पुराण-धर्मशास्त्र-साहित्य-अर्थशास्त्र इत्यादि शास्त्रों के ज्ञान का निर्देश होता है । आयुर्वेद के भी वे बहुत अच्छे ज्ञाता थे । संगीतशास्त्र और अर्थशास्त्र के उनके ज्ञान का साक्ष्य तो उनके नाटकों से ही मिलता है । संगीत के वे मर्मज्ञ थे, स्वयं सितार भी बजाते थे और पं० ओम्कारनाथजी के बडे भक्त थे । ज्योतिष पर इनका इतना प्रभुत्व था कि, कहते हैं कि, अपने मृत्यु का दिन-समय उन्होंने बहुत पहले से अपनी जन्मपत्रिका में लिख लिया था । बरोडा कालेज में वे श्री अरविन्द के छात्र रहे । अन्यत्र उन्होंने स्वयं वेदालंकार पंडित नागप्पाजी का गुरुऋण स्वीकार किया है । पं० गोपालाचार्यजी एवं पं० बदरीनाथ जैसे धुरंधर विद्वानों ने ग्रन्थालेखन में उनका साथ दिया । बदरीनाथजी ने इनके तीनों संस्कृत नाटकों का आंग्लानुवाद भी किया । पं० श्रीधर शास्त्रीजी ने इनके तीनों नाटकों पर

टीकाओं का प्रणयन भी किया । अपनी विद्वत्ता से मूलशंकरजीने अपने सभी विद्वान् सहकार्यकरों का आदर और सहकार प्राप्त किया था । केवल वडोदरा या गुजरात में नहीं, पूरे देश में इनकी विद्वत्ता एवं लेखनी का समादर होता था । इनके संस्कृत नाटकों की सृजनशीलता ने इन्हें वाराणसी की विद्वत् संसद् की मानार्ह उपाधि **साहित्यमणि** अर्जित कराई थी ।

टीकाकार पं. श्रीधर लक्ष्मण शास्त्री

आचार्य मूलशंकरजी के तीनों संस्कृत नाटकों पर टीकाओं का प्रणयन करने वाले उनके सहाध्यापक वे.शा.सं.पं० श्रीधर लक्ष्मण शास्त्री भी साहित्य, व्याकरण, न्याय, वेदान्त, ज्योतिष, आयुर्वेद, धर्मशास्त्र, संगीत, वेद, याज्ञिकी इत्यादि अनेक शास्त्रों के विद्वान् थे । वडोदरा के महाराजा ने गांव पोहे (ता. कोपरगांव, जिला नगर, महाराष्ट्र) से बुलाकर इनके विद्वान् पितामह पं० त्र्यंबक शास्त्री पदे (=वेदों के पदपाठके ज्ञाता) को संमानपूर्वक वडोदरा में बसाया था । पं० श्रीधरजी को शारदापीठ शंकराचार्य ने **वैयाकरण केसरी** एवं अ.भा. आयुर्वेद विद्यापीठ ने **वैद्यपंचानन** उपाधिओं से विभूषित किया था । वे पाठशाला में व्याकरण के एवं संगीतशाला में संगीत के भी अध्यापक थे । अनुशासन के आग्रही थे और ब्राह्मण षट्कर्म एवं नित्यपूजा-यज्ञ-अध्ययनादिके दृढ पालक थे । पांच पीढी से उनका वैदुष्य प्रतिष्ठित रहा है । (प्राच्यविद्यामन्दिर के वर्तमान नियामक डॉ. मुकुन्द वाडेकर इनके दौहित्र हैं ।)

उन दिनों प्रसिद्ध संगीतकार पंडित विष्णु नारायण भातखंडे द्वारा संगीतशास्त्र का छात्रोपयोगी ग्रंथ *श्रीमल्लक्ष्यसंगीतम्* रचा गया था । पदेशास्त्रीजी भी अपने संगीत के अध्यापन में इसका प्रयोग करते थे । मूलशंकरजी के तीनों नाटको में गीतों के रागों के लक्षण टीकाकार ने इसी ग्रंथ से उद्धृत किये हैं ।

यहां उनकी टीकाओं से केवल पर्यायात्मक अंशों को दूर करके छंद-अलंकार-संधि-सन्ध्यङ्ग-प्रसङ्गनिर्देश-शास्त्रोद्धरण इत्यादि अंशो को पुनर्मुद्रित किया गया है ।

From Author's Introductions

...in the Sanskrit drama there is no scope for the tragedy... Long journeys, massacres and actual fights are never to be exhibited on the stage. The death of the hero should not even be indicated...

Keeping all these points in view, I have composed this love-play, the plot of which is ... as depicted by Shriyuta Shripada Shastri in his series, *Bharata-Vira-ratna-mala*. ...

On reading the series, I was induced to write three plays, two heroic ones, displaying the exploits of Pratapa and Shivaji, and the third a love-play, describing the love-intrigues of Pruthviraja. The heroic play of *Pratapavijaya* was first taken in hand and was finished in 1926, but its publication had to be postponed.

- from Author's Introduction to ***Samyogitasvayamvaram***.

... this heroic play, the plot of which is based on the history of the reign of Shivaji, from 1646 to 1674 the date of his coronation, as given in the following books :-

Grant Duff's "*History of the Marathas*"
Sardesai's "*Marathi Riasat*"
Macmillan's "*In Wild Maratha Battle*"
Shripad Shastri's "*Chhatrapati Shivaji Maharaja*"
Mankar's "*Life and Exploits of Shivaji*"

.....

The researches of Mahamahopadhyaya R. B. Gaurishankar H. Oza have thrown new light on the history of the reign of Maharana Shri Pratapasinha. So the publication of the play will have to be postponed till its thorough revision.

- from Author's Introduction to ***Chhatrapatisamrajyam***

* * *

[The sources of *Pratapavijayam*:-

1. *Vira-Shiromani Maharana Pratapasimha-*
   Mm. R. B. Gaurishankar H. Oza
2. *Shri-Maharana-Pratapasimha-carita*
   Shripad Shastri
3. *Ain-e-Akbari*
4. *Memoirs of Jehangir*]

SOME OPINIONS

Samyogitaswayamvaram

...Permit me to congratulate you on the melodiousness and easy grace of your Sanskrit; and also on the choice of a historical subject.

Mm. Pt. Ganganath Jha, M.A., D.Litt., Vice-Chancellor, Allahabad University, Allahabad.

...competent scholars like you maintaining the classical tradition.

Dr. L. D. Barnett, M.A., Ph.D., British Museum, London

...Some very pleasant hours of reading... your kavita and Sanskrit style... are not a mere imitation of ancient models but have something original and personal.

Dr. Hermann Jacobi, Hamburg, Germany

...In the conception of a historical plot, in the charm of diction, in the description of events so as to be full of dramatic interest, in the dignity and suggestiveness of style and in the skilful observance of rules of dramaturgy, you have achieved a commendable success. Your poetical skill is admirable.

Dr. R. Shamshatri, Curator, Government Oriental Library, Mysore

It contains much felicity of expression and elegance of diction and is an interesting revival of the most attractive branch of Sanskrit literature.

Prof. A. B. Keith, University of Edinburgh

It is interesting to see how the Sanskrit Play is still living in Bharatvarsha. This intimate interest in the past is a great asset in the national life of the nation.

Dr. Sten Konow, Acta Orientalia, Oslo, Norway

I have admired your artistic taste and your rare ability in writing in Sanskrit.

Signor Guiseppe Tucci, Shrinagar, Kashmir

Such works of literature ...are still being produced in Sanskrit; it is a healthy sign of Sanskrit studies.

Prof. Franklin Edgerton, Yale University, America

Chattrapatisamrajyam

...You handle the Vaidarbhi riti with much skill, and the play is very agreeable reading.

Dr. L. D. Barnett, M.A., Ph.D., British Museum, London

I value your learned and Patriotic composition very highly.

Professor Jolly, Wurzburg, Germany

...You have admirably succeeded in dramatising the life of the great Shivaji and his heroic activities. Your verses are elegant, sweet and eloquent, and the dialogues are all charming. The ten incidents apparently disconnected with each other lead to the crowning of Shivajee and thus supply the unity of theme.

Dr. R. Shamashastri, R. Curator and Director of Archaeology, Mysore

Chatrapatisamrajyam, I have read with great interest, as a good Nataka and as an interesting document to the vitality of the Sanskrit drama.

Dr. Sten Konow, Acta Orientalia, Oslo , Norway

...There is possibly even more skilful management of incidents, and there is the same mastery of Kavya style.

Prof. Louis Le La Vallee Poussin, Brussels, Belgium

Excellent reading, a worthy successor to the Samyogitasvayamvara... how perfectly you feel at home in that difficult Brahmi Vac, and your works are in no way inferior, as far as I can judge, to those of our honoured classical poets and dramatists.

Dr. N. S. Sukthankar, Bhandarkar Oriental Reserach Institute, Poona

लोकप्रियसाहित्यग्रन्थमाला – ७

मूलशङ्कर-नाट्यत्रयी

संयोगितास्वयंवरम्
छत्रपतिसाम्राज्यम्
प्रतापविजयम्

सम्पादकः
राजेन्द्रः नाणावटी

मूलशङ्कर-नाट्यत्रयी
राजेन्द्रः नाणावटी